दैनिक भास्कर

Date: 17-06-17

मोदी-ट्रम्प समीकरण जम जाए तो बेहतर

डोनाल्ड ट्रम्पके राष्ट्रपति बनने के बाद प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी पहली बार अमेरिका की राजकीय-यात्रा करेंगे। ओबामा के जमाने में वे तीन बार अमेरिका हो आए और ओबामा से आठ बार मिले। दोनों के बीच समीकरण इतने मधुर हो गए थे कि मोदी उन्हें उनके पहले नाम, 'बराक', से बुलाते थे लेकिन संदेह है कि ट्रम्प के साथ भी उनका ताल-मेल उसी स्तर का हो जाएगा हालांकि, अपने चुनाव-अभियान के दौरान ट्रम्प ने प्रवासी भारतीयों की एक सभा में भारत और मोदी की तारीफ के पुल-बांध दिए थे लेकिन, उनका कुछ भरोसा नहीं है। उन्होंने पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ और पाकिस्तानी जनता के लिए उससे भी जोरदार भावभीने शब्दों का प्रयोग किया था। ट्रम्प की नीति किस मामले में क्या है, ठीक-ठाक बताना मुश्किल है। उनके बारे में यही पक्का है कि कुछ भी पक्का नहीं है। इसीलिए मोदी की यह वाशिंगटन-यात्रा कितनी सार्थक होगी, इस बारे में अनुमान ही लगा सकते हैं। मान सकते हैं कि पिछले आठ-दस साल में भारत और अमेरिका के बीच जो घनिष्ठता बढ़ती रही है, उसके बढ़ते रहने के आसार कम ही हैं, क्योंकि ट्रम्प ऐसे राष्ट्रपति हैं, जो अमेरिका को अंतर्मुखी बनाने पर तुले हुए हैं। उन्होंने पड़ोसी देशों कनाडा और मेक्सिको को धमका दिया है, सैन्य-मित्रों नाटो देशों के कान खड़े कर दिए हैं और विश्व-आतंकवाद के सवाल पर भी वे निष्क्रिय हैं। वे सिर्फ उन आतंकियों को हड़का रहे हैं, जिनसे अमेरिका को खतरा है। यह ठीक है कि उन्होंने अपनी सउदी अरब यात्रा के दौरान आतंक-पीड़ित भारत का नाम जरूर लिया लेकिन, उस आतंक से छुटकारा दिलाने के बारे में वे कुछ नहीं बोले। बल्कि मुझे तो उल्टा ही लगता है। उन्होंने तो सउदी अरब, मिस्र, संयुक्त अरब अमीरात और बहरीन वगैरह देशों के क़तर पर लगाए प्रतिबंध लगाए का समर्थन कर दिया है। मतलब घुमा-फिराकर वे सुन्नी आतंकवाद के समर्थक बन गए हैं और शिया आतंकवाद के विरोधी, क्योंकि ईरान, क़तर और सीरिया जैसे देशों की शिया सरकारों से उनको कोई खास फायदा नहीं है, जबकि सऊदी अरब जैसे देशों से सैकड़ों अरब डाॅलर के उन्होंने नए सौदे किए हैं।

क्या दुनिया को पता नहीं है कि सीरिया में आतंक फैलाने वाले 'दाएश' (आईएसआईएस) के पीछे असली ताकतें कौन-सी हैं। ओबामा ने पुतिन के साथ सीरिया में 'दाएश' के खिलाफ सैन्य अभियान चलाया था लेकिन, जब से ट्रम्प राष्ट्रपति बने हैं, वह अभियान शिथिल हो गया है। जो ट्रम्प, सउदी अरब को विश्व आतंक का पिता कहते थे, उसे न्यूयॉर्क के ट्रेड टावर पर हमले का जिम्मेदार बताते थे और उसे सबक सिखाने का दम भरते थे, वे पहली विदेश यात्रा पर गए तो कहां गए? सउदी अरब! ओबामा ने यूरोपीय देशों के साथ मिलकर ईरान की परमाणु-समस्या को हल किया था लेकिन, ट्रम्प ने फिर ईरान के विरुद्ध कमर कसनी शुरू कर दी है। इन तथ्यों को देखते हुए मुझे नहीं लगता कि इस यात्रा के दौरान मोदी कोई ठोस आश्वासन लेकर अमेरिका से लौटेंगे, जो दक्षिण एशिया को आतंकवाद से मुक्ति दिला सके। पेरिस के जलवायु समझौते का बहिष्कार करते वक्त ट्रम्प ने भारत के विरुद्ध जितनी फूहड़ टिप्पणी की थी, क्या कोई जिम्मेदार नेता कभी कर सकता है। उन्होंने कह दिया कि पेरिस समझौते में टिके रहने के लिए भारत मांग रहा था-'अरबों अरब डॉलर।' यदि ट्रम्प का भारत के प्रति कुछ विशेष आकर्षण होता तो क्या वे इतना

अमर्यादित बयान देते? लगता है कि उनके मन में जो जाता है, उसे बोल देते हैं। ओबामा जब नए-नए राष्ट्रपति बने तो वे चीन को एशिया की धुरी कहने लगे थे, लेकिन धीरे-धीरे उन्हें अहसास हुआ कि चीन के मुकाबले भारत अधिक भरोसेमंद राष्ट्र है। यह दौर वह था, जब भारत और अमेरिका एक-दूसरे के स्वाभाविक मित्र जैसे लगने लगे थे। अफगानिस्तान में शांति स्थापित करने में दोनों देशों की संयुक्त रणनीति बनने लगी थी लेकिन, अभी किसी को पता ही नहीं है कि ट्रम्प की अफगान-नीति क्या है और वे दक्षिण एशिया में भारत की क्या भूमिका देखते हैं ?

आज भारत की विदेश नीति के सामने बड़ी चुनौती यह खड़ी हो गई है कि दुनिया के तीन सबसे शक्तिशाली राष्ट्रों- अमेरिका, रूस और चीन में से एक भी पूरी तरह से उसके साथ नहीं है। जो ट्रम्प चीन को काफी भला-बुरा कहा करते थे, उन्होंने चीनी राष्ट्रपति शी का अपने निजी निवास में भाव-भीना स्वागत किया और उत्तरी कोरिया को काबू करने के लिए वे अब चीन का सहारा ले रहे हैं। भारत के मुकाबले अमेरिका की नज़र में चीन का वजन बहुत ज्यादा है। इसी तरह ओबामा से उलट ट्रम्प के रूस के साथ संबंधों पर रोज नए रहस्योद्घाटन हो रहे हैं। ऐसे में भारत को अब वह महत्व मिलेगा, जो ओबामा के ज़माने में मिला था, यह संदेहास्पद है।

पिछले तीन वर्षों में मोदी चीन-पाक सांठ-गांठ को ढीली नहीं कर पाए। यह ठीक है कि भारत शांघाई सहयोग संगठन का सदस्य बन गया है लेकिन पाकिस्तान भी तो बन गया है। कोई आश्चर्य नहीं कि रूस और चीन दोनों मिलकर भारत को दबाने की कोशिश करें। ट्रम्प से मिलते वक्त मोदी को यह तथ्य तो उठाना ही चाहिए, साथ ही अमेरिका, भारत और जापान के त्रिभुज को सक्रिय करने का प्रस्ताव लाना चाहिए। एशिया में चीन के रेशम पथ के मुकाबले एक नए मखमल-मार्ग की कल्पना पेश करनी चाहिए।

इस वाशिंगटन-यात्रा के दौरान मोदी की कोशिश यही होनी चाहिए कि भारत-अमेरिका के द्विपक्षीय संबंधों में कोई तनाव पैदा हों। भारतीय नागरिकों के एच-1 बी वीजा के सवाल पर मोदी को काफी मशक्कत करनी पड़ेगी। वे 37 प्रतिशत कम कर दिए गए हैं। लगभग पांच लाख भारतीय नागरिक अमेरिका छोड़ने के लिए मजबूर हो जाएंगे। इसी प्रकार भारत-अमेरिका परमाणु समझौते पर अभी तक कोई ठोस काम नहीं हुआ है, जबकि मनमोहन सिंह ने यह समझौता करते वक्त संसद में तूफानी विरोध का सामना किया था। शस्त्रास्त्र खरीद के भी कई मामले अधर में लटके हुए हैं। अमेरिका से 6500 करोड़ का हेलिकॉप्टर खरीद का सौदा भारत ने अभी-अभी रद्द किया है। भारत-अमेरिकी व्यापार अभी थम-सा गया है। यदि उसे ही तेज रफ्तार मिल सके तो यह यात्रा सफल मानी जाएगी। यदि ट्रम्प-काल की इस पहली यात्रा में इतना ही हो सके तो शेष अवधि में ट्रम्प और मोदी काफी-कुछ कर सकते हैं, क्योंकि दोनों नेताओं के स्वभाव में काफी समानताएं हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति के रवैये से लगता नहीं कि वे भारत को वह महत्व देंगे, जो ओबामा के कार्यकाल में दिया गया था

वेदप्रताप वैदिक भारतीयविदेश नीति परिषद के अध्यक्ष,(येलेखक के अपने विचार हैं।)

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 17-06-17

आधे का हो वादा

सरकार ने हाल ही में अपना ध्यान रोजगार सृजन की ओर केंद्रित किया है। इस बीच ऐसे कई सर्वेक्षण आए हैं जो देश में रोजगार की स्थिति उजागर करते हैं। सारे सर्वेक्षणों को मिलाकर देखा जाए तो अलग-अलग आंकड़ों के बावजूद इनमें से एक साझा संदेश निकलता है। वह संदेश यह है कि नए रोजगार पर्याप्त संख्या में तैयार नहीं हो पा रहे हैं। खासतौर पर आंकड़ों की बात की जाए तो एक जगह पर आम सहमति नजर आती है: देश में हर साल करीब 10 लाख नए रोजगार या साल में कुल 1.2 करोड़ रोजगार सृजित करने की आवश्यकता है। यह आंकड़ा संभवत: देश की आबादी में होने वाली सालाना बढ़ोतरी पर आधारित है। बीते दो दशकों से यह वृद्धि 1.8 करोड़ पर टिकी हुई है। इस आबादी में दोतिहाई हिस्सा श्रम योग्य आबादी का है जिनकी उम्र 15 से 64 वर्ष के बीच है।

बहरहाल, ऐसा कोई देश नहीं है जहां श्रम योग्य उम्र वाली पूरी आबादी को रोजगार मिल ही जाता हो। इसके वैश्विक औसत को श्रम शक्ति भागीदारी दर कहा जाता है जो वर्ष 2016 में 63 फीसदी थी। विश्व बैंक के मुताबिक भारत में यह आंकड़ा 54 फीसदी है (सन 1990 में यह 61 फीसदी था)। देश में आंकड़ों की कमतरी के लिए कुछ सांस्कृतिक कारक भी जिम्मेदार हैं। क्योंकि यह मुद्दा प्राथमिक तौर पर अस्वाभाविक रूप से महिलाओं की कम भागीदारी का है। घरों से बाहर वे बहुत कम काम करती हैं। भारतीय महिलाओं की घर से बाहर काम में भागीदारी 50 फीसदी के वैश्विक औसत का आधा है। जबकि भारतीय पुरुषों की बात करें तो उनकी श्रम भागीदारी 79 फीसदी है जो वैश्विक औसत से कुछ बेहतर है।

देश की कम श्रम भागीदारी की वजह सांस्कृतिक है या नहीं यह अलग मसला है लेकिन इसका तात्पर्य यही है कि वर्ष 2017 में तकरीबन 130 करोड़ की आबादी में और करीब 87 करोड़ की काम करने लायक आबादी में केवल 47 करोड़ लोगों के पास ही रोजगार होगा। यानी कुल आबादी का 36 फीसदी। इस अनुपात में देखें तो कुल आबादी जहां सालाना 1.8 करोड़ की गति से बढ़ रही है वहीं सक्रिय श्रम शक्ति में सालाना 65 लाख का ही इजाफा हो रहा है। यानी हर वर्ष 1.2 करोड़ नहीं बल्कि इतने ही अतिरिक्त रोजगार सृजित करने होंगे। तभी श्रम शक्ति भागीदारी अपने मौजूदा स्तर पर बरकरार रह सकेगी।हर वर्ष 65 लाख नए रोजगार सृजित करने का अर्थ है 1.4 फीसदी की रोजगार वृद्धि। सामान्य तौर पर देखें तो 7 फीसदी की दर से विकसित हो रही अर्थव्यवस्था के लिए यह कोई कठिन काम नहीं होना चाहिए। बहरहाल, श्रम शक्ति का आधा हिस्सा कम आय वाले काम जैसे कि कृषि में लगा है जहां प्रतिव्यक्ति आय गैर कृषि कार्य की तुलना में बमुश्किल 1/6 है। खेत बड़ी तादाद में अव्यावहारिक हो चुके हैं। उनसे ज्यादा लोगों का पेट नहीं पलता। हालांकि कृषि में ही बागवानी जैसे विकल्प हैं जो गेहूं और चावल जैसी फसलों की तुलना में ज्यादा ज्यादा देते हैं। ऐसे में अगर खेतों में काम बढ़ भी जाता है तो भी कृषि से यह उम्मीद करना बेमानी है कि वह मौजूदा की तुलना में कहीं अधिक लोगों का पोषण करेगी। ऐसे में जाहिर है नया रोजगार विनिर्माण और सेवा क्षेत्र से ही आएगा। इन दो क्षेत्रों में 65 लाख रोजगार तैयार करने का अर्थ है गैर कृषि क्षेत्र में करीब 2.8 फीसदी की सालाना रोजगार वृद्धि दर। यह कड़ी चुनौती लगती है लेकिन किसी तरह देश इस जद्दोजहद में लगा हुआ है।अगर ऐसा नहीं होता तो कृषि से जुड़े रोजगार में कमी नहीं आती। बहरहाल, कई देशों की तरह मुद्दा यही है कि लोग कम आय वाले अंशकालिक काम से कहीं अधिक सुरक्षित और बेहतर गुणवत्ता वाले रोजगार की ओर बढ़ रहे हैं। यह काम आसान नहीं रहा है क्योंकि औद्योगिक वृद्धि के बारे में लिखने को कुछ खास नहीं है और स्वचालन के चलते मौजूदा रोजगारों पर भी संकट के बादल मंडरा रहे हैं। लब्बोलुआब यह है कि फिलहाल यह मानते हुए कि अर्थव्यवस्था को हर महीने 10 लाख नए रोजगार की आवश्यकता है, कम से कम इसका आधा तो हासिल किया ही जाना चाहिए।

जनसत्ता

Date: 17-06-17

दार्जीलिंग की आग

गुरुवार की सुबह जीजेएम यानी गोरखा **जनमुक्ति** मोर्चा के दफ्तरों पर पुलिस के छापों के बाद हालात और तनावपूर्ण हो गए। जीजेएम ने अनिश्चितकालीन हड़ताल का आह्वान किया। बंद के अलावा छिटपुट हिंसा की भी घटनाएं हुईं। बंगाल के **उत्तरी** हिस्से में स्थित दार्जीलिंग एक पर्यटन स्थल के रूप में मशहूर है। साथ ही यह दुनिया भर में बेहतरीन चाय उत्पादक के तौर पर भी जाना जाता है। पर यह सुरम्य पहाड़ी इलाका इन दिनों बेहद अशांत है। जीजेएम समेत **दार्जीलिंग** में रसूख रखने वाले क्षेत्रीय दलों तथा राज्य सरकार के बीच ठनी हुई है। मुख्यमंत्री ममता बनर्जी का एक फैसला टकराव का कारण बना। उन्होंने राज्य के सभी स्कूलों में बांग्ला की अनिवार्य पढ़ाई का आदेश जारी किया। दार्जीलिंग मुख्यत: नेपाली-भाषी गोरखा लोगों का इलाका है। राज्य सरकार के आदेश पर यहां तीखी **प्रतिक्रिया** हुई। नाफरमानी का स्वर तेज हुआ। नतीजतन, राज्य सरकार को दो कदम पीछे हटना पड़ा। मुख्यमंत्री ने कहा कि बांग्ला की अनिवार्य पढ़ाई का आदेश दार्जीलिंग में लागू नहीं होगा। हैरत की बात है कि राज्य सरकार के इस स्पष्टीकरण के बावजूद विरोध-प्रदर्शन बंद नहीं हुए। उलटे राज्य सरकार के उस आदेश का विरोध जल्दी ही अलग गोरखालैंड राज्य की मांग **में** तब्दील हो गया। यों यह मांग नई नहीं है।

उन्नीस सौ अस्सी के दशक में सुभाष घीसिंग के **नेतृत्व** में गोरखालैंड के लिए उग्र आंदोलन चला था। इसकी **परिणति** दार्जीलिंग के लिए एक अर्ध-स्वायत्त व्यवस्था के रूप में हुई, कुछ मामलों में वहां गोरखा लोगों को स्व-शासन का अधिकार मिला। पहले दार्जीलिंग पर्वतीय परिषद की स्थापना हुई, फिर गोरखालैंड क्षेत्रीय प्रशासन की। प्रत्यक्ष चुनाव के जरिए इसके प्रतिनिधि चुने जाते रहे **हैं**। बहरहाल, अलग गोरखालैंड राज्य की मांग ने जहां क्षेत्रीय स्तर पर सभी **पार्टियों** को एकजुट कर दिया है, वहीं भाजपा को दुविधा में डाल **दिया** है। तृणमूल कांग्रेस, माकपा और कांग्रेस का रुख साफ है, ये तीनों पार्टियां **गोरखालैंड** की मांग के खिलाफ हैं। अलबत्ता माकपा और कांग्रेस हालात के इस हद तक बिगड़ने का दोष ममता बनर्जी पर जरूर मढ़ रही हैं। पर भाजपा की हालत विचित्र हो गई है। 2009 में भाजपा के जसवंत सिंह यहां से लोकसभा के लिए चुने गए थे, तो उसके पीछे जीजेएम का **समर्थन** ही था। दार्जीलिंग से भाजपा के सांसद एसएस अहलूवालिया ने गोरखालैंड की मांग पर विचार करने के लिए केंद्रीय गृह मंत्रालय से **विशेषज्ञों** की एक समिति गठित करने की मांग की है, वहीं **दार्जीलिंग** में जीजेएम की ओर से गोरखालैंड के लिए बुलाई गई बैठक में स्थानीय **संगठनों** के साथ ही भाजपा के प्रतिनिधि भी शरीक हुए थे।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 17-06-17

Mamata's Bengali blunder

The immediate provocation was the announcement by the state government that the Bengali language would be made a compulsory subject in all schools in the state.

It is a disturbing message, of colonialism, through the use of state apparatus that Mamata Banerjee is attempting to send across in the Darjeeling hills, pushing the region to boiling point. Last week, Banerjee drove cowboy-style around the hill station with a loud hailer in her hand, urging tourists on to "feel safe". This was a day after a three hour-long face-off between the police and Gorkha Janmukti Morcha (GJM) supporters, very near the Raj Bhavan, after the latter was prevented from holding protests against the chief minister. Many were injured; about half a dozen vehicles were burnt. Not only were the hills flooded with security personnel, Banerjee even called in the army.

Banerjee's actions, looped endlessly on Kolkata TV channels, may have endeared her to mainland Bengal. They prompted some to say that the TMC had devised a regionalism plan to counter the BJP's apparent rise in Bengal. But, to the Gorkhas, they were a depiction of domination tantamount to colonialism.The immediate provocation was the announcement by the state government that the Bengali language would be made a compulsory subject in all schools in the state. State education minister Partha Chatterjee gave a press conference on May 15 on the issue; a day later, Banerjee posted on her official Facebook page that one of the three languages under the three-language policy in the state would have to be Bengali. Protests scaled up thereafter in the hills where the Nepali-speaking majority sensed that Bengali was being imposed on them. The confusion multiplied when Banerjee walked into Mirik and announced Bengali would be optional in the hills — but with the rider that it will be taught as a fourth language. Opposition reached a crescendo after GJM supremo Bimal Gurung synchronised dharnas and rallies with Banerjee's visit to Darjeeling and her declaration of holding a cabinet meeting there after a gap of 45 years.

Banerjee responded with a crackdown against GJM cadres. Worse, she did not spare civil society. She slapped criminal cases for hate speech against several persons, including two eminent literary figures, both Sahitya Akademi award winners, two school principals, including the head of the prestigious St Paul's School, as well as yours truly. But criticism of government is the hallmark of a democracy. If anyone criticises the government, should this be seen as hate speech?The conflagration was a manifestation of the underlying tensions between the GJM and the TMC-led government.The tripartite agreement is in shambles: The GJM has decided to go back to its demand for the separate state of Gorkhaland. It has also appealed to other hill outfits for support, who have responded positively. The TMC-led government is in no mood to give and take. And the Centre is unable to take a call on intervening.

The Darjeeling hills always had a special status because of its Nepali-speaking majority and distinctions vis a-vis mainland Bengal. This is why successive governments experimented with various formulations including creating an autonomous council and a "state within a state" concept. Jyoti Basu set up the Darjeeling Gorkha Hill Council (DGHC) after violence in Darjeeling. This was the basis on which the GTA was set up as an interim administrative body with an autonomous character. That the Centre too is a party to the negotiations underlines the special status of the region.

But Banerjee has attempted to change all that. She makes it a point to speak in Bengali in the hills. She has plastered the walls in the hills with posters in Bengali lauding the government's achievements. She held the anniversary of Subhas Chandra Bose in Chowrasta for two consecutive years, bringing Baul singers and Bengali

pop artists, a concept disliked instantly. Her latest move to hold a cabinet meeting in Darjeeling and her decision to create a mini secretariat in the hill station was also seen in the same light.The deployment of the army in Darjeeling was another nail in the wall. For a people who always wanted to join the Indian mainstream through the dream of a separate state, so that their identity issue is resolved, calling in the army was almost akin to the suggestion that they were indulging in anti-national activities. Most families also have someone in the army, which only endears them closer to the defence services.For a region surrounded by three international borders and a terrain that is difficult to manoeuvre, the trouble does not bode well. The GJM has announced it will tread the path of a statehood demand again. Containment by force won't work. Banerjee seems to have decided to play with fire, but any political or security instability in the region will mean that anti-national forces too may get a playground to act against national interest.

The writer, a former journalist, is with the Gorkha Janmukti Morcha

---

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 17-06-17

कर्जमाफी नहीं है समाधान

इस हफ्ते की शुरुआत मध्य प्रदेश के 42 वर्षीय किसान रमेश बसेने की आत्महत्या के साथ हुई। हिन्दुस्तान टाइम्स में छपी खबर में बताया गया था कि उस पर 25,000 रुपये का कर्ज था। कुछ ही हफ्ते पहले महाराष्ट्र के एक किसान की 21 वर्षीया बेटी शीतल व्यंकट की आत्महत्या की भी दुखद खबर आई थी। अपनी शादी के लिए पैसे के इंतजाम को लेकर पिता की परेशानी उससे देखी न गई और उसने कुएं में कूदकर जान दे दी। सुसाइड नोट में उसने लिखा, 'पिछले पांच वर्षों से लगातार फसल खराब होने के कारण हमारे परिवार की आर्थिक हालत काफी खराब हो गई है। मैं अपनी जान दे रही हूं, क्योंकि मैं नहीं चाहती कि मेरी शादी को लेकर पिता पर कर्ज का बोझ और ज्यादा बढ़े।'

देश में खाद्यान्न का कटोरा कहे जाने वाले पंजाब में भी जिस तरह बड़ी संख्या में किसानों की खुदकुशी की खबरें आई हैं, उससे हर कोई हतप्रभ है। कुछ महीने पहले ही वहां एक युवा किसान ने अपनी जान दे दी। नहर में मौत की छलांग लगाने से पहले उसने अपने पांच साल के बेटे को भी कमर में बांध लिया था। अपने आखिरी खत में उसने लिखा कि आखिर वह मासूम बेटे के साथ क्यों जान दे रहा है? दरअसल, उस पर दस लाख रुपये का कर्ज था और वह जानता था कि पूरी उम्र मेहनत-मजूरी करके भी उसका बेटा यह कर्ज नहीं चुका सकेगा।

ये तीन घटनाएं देश के तमाम किसान परिवारों की त्रासदी बताने को काफी हैं। पिछले 21 वर्षों में 3.18 लाख से अधिक किसानों ने हालात से हारकर आत्महत्या की है। मध्य प्रदेश के मालवा में हुआ किसानों का हिंसक आंदोलन वास्तव में इसी आर्थिक अभाव का नतीजा है, जो हमारे अन्नदाताओं में चौतरफा पसर चुका है। यह आंदोलन भी छह किसानों को लील चुका है और अब इसके पांव पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और छत्तीसगढ़ की तरफ बढ़ चुके हैं। मेरा मानना है कि किसान-आत्महत्या तो उस गंभीर गड़बड़ी का एक संकेत मात्र है, जिसने पूरी खेती-किसानी को ही बदहाल कर रखा है। दरअसल, ऐसे वक्त में, जब शहरी भारत में आमदनी का स्तर बढ़ रहा है, 2016 का आर्थिक सर्वे बताता है कि देश के 17 राज्यों, यानी लगभग आधे भारत में कृषि परिवारों की सालाना औसत आमदनी महज 20,000 रुपये है। समझा जा सकता है कि ये परिवार जीने के लिए कैसी जद्दोजहद करते होंगे? जबकि एक गाय को पालने में ही हर महीना कम से कम 1,700 रुपये का खर्च आता है।

इस सबके बावजूद संदेह होता है कि मुख्यधारा के अर्थशा्त्रियों और नीति-नियंताओं के लिए मानव त्रासदी की ये मार्मिक कहानियां कोई मायने रखती हैं। हर फसल के बाद बाजार लुढ़कता है, और सरकार यह सुनिश्चित करने में ही दुबली हुई जाती है कि किसानों को घोषित न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) मिल रहा है अथवा नहीं। नतीजतन, किसान कर्ज के अंतहीन चक्र में उलझता जाता है। एमएसपी भी आमतौर पर लागत से कम ही तय किया जाता है। जैसे, महाराष्ट्र में अरहर दाल की उत्पादन लागत 6,240 रुपये प्रति क्विंटल आंकी गई, मगर न्यूनतम समर्थन मूल्य घोषित किया गया 5,050 रुपये प्रति क्विंटल। दुखद सच यह भी है कि किसानों ने जिन कीमतों पर दाल बेची, वह 3,500 से 4,200 रुपये प्रति क्विंटल के बीच थी। और इसके लिए भी उन्हें हफ्तों तक मंडियों में इंतजार करना पड़ा।

एक तस्वीर और है। हरियाणा के एक किसान ने तीन महीने की हाड़तोड़ मेहनत के बाद आलू की अच्छी फसल उगाई, मगर कीमतें कम हो जाने की वजह से वह अपना 40 क्विंटल आलू महज नौ पैसे प्रति किलो की दर से बेचने को मजबूर हुआ। जब कीमतें इस कदर गोते लगाने लगें, तो स्वाभाविक रूप से वह किसानों के लिए प्राणघातक साबित होंगी। मगर आज तक सरकार कभी भी किसानों के इससे बचाने के लिए आगे नहीं आई। अब इसकी तुलना शेयर बाजार से करें। बाजार के लुढ़कते ही फौरन हमारे वित्त मंत्री घंटे-दर-घंटे आर्थिक संकट पर नजर रखने का वादा करते हैं और निवेशकों को धैर्य बंधाने के लिए प्रेस कॉन्फ्रेंस करते हैं। लेकिन हमने कभी यह तो नहीं देखा कि वित्त मंत्री या कृषि मंत्री फसलों की कीमत गिरने पर इस कदर परेशान हुए हों? किसानों को ढाढस बंधाते दिखाई दिए हों?

सच यही है कि दीन-हीन किसान कर्ज में जीने को मजबूर कर दिए गए हैं। यह कर्ज हर बीतते वर्ष के साथ बढ़ता जा रहा है। हमारे अन्नदाता जिस आर्थिक संकट से जूझ रहे हैं, दरअसल वह फसल की उचित कीमत न मिलने के कारण और गहरा रहा है। खाद्य मुद्रास्फीति को नियंत्रण में रखने की कीमत हमेशा इसी समुदाय ने चुकाई है। बीते तीन दशकों में एक-एक कर आई तमाम सरकारों ने जान-बूझकर कृषि-व्यवस्था को चौपट किया है। अनुमान है कि हर रात देश के 58 फीसदी किसान भूखे पेट सोने को मजबूर होते हैं। मैं हमेशा यह कहता रहा हूं कि ये किसान ही हैं, जो इन तमाम वर्षों में देश को सब्सिडी देते रहे हैं।

बहरहाल, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने हाल ही में 36,359 करोड़ रुपये की कर्ज-माफी की घोषणा की, जिसके लागू होने के बाद प्रदेश के 92 लाख लघु और सीमांत किसानों को फायदा होगा, तो महाराष्ट्र सरकार ने भी 30,500 करोड़ रुपये की कर्ज-माफी की घोषणा की है। उम्मीद है कि पंजाब में भी कम से कम 30,000 करोड़ के कर्ज माफ किए जाएंगे। कर्ज-माफी की यह मांग अब हरियाणा, राजस्थान, छत्तीसगढ़ और मध्य प्रदेश तक पहुंच गई है। वैसे मेरा मानना यही है कि कर्ज-माफी राज्य सरकारों की बेहतर सियासत तो है ही, अच्छा अर्थशास्त्र भी है। इन तमाम कर्ज-माफी को जोड़ दें, तब भी वे चार लाख करोड़ रुपये तक नहीं पहुंचेंगे, जिस राहत पैकेज की मांग दूरसंचार उद्योग कर रहा है।

हालांकि मैं इससे सहमत हूं कि कर्ज-माफी महज तात्कालिक उपाय है। हमें ऐसी नीतियां बनानी चाहिए, जिससे भविष्य में किसान कर्जदार ही न होने पाएं। स्पष्ट है कि किसानों को आर्थिक सुरक्षा मिलनी चाहिए, जिसके लिए कुछ कदम उठाने जरूरी हैं। मसलन, फसलों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य की सिफारिश करने वाले कृषि लागत और मूल्य आयोग को यह निर्देश दिया जाना चाहिए कि वह न्यूनतम समर्थन मूल्य तय करते वक्त आवास भत्ता, स्वास्थ्य भत्ता, शैक्षणिक भत्ता और यात्रा भत्ता पर भी गौर करे। अब तक एमएसपी में उत्पादन-लागत ही शामिल की जाती रही है। इसी तरह, यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि चूंकि एमएसपी का फायदा देश के महज छह फीसदी किसानों को होता है, इसलिए एमएसपी पर 50 फीसदी लाभ देने की मांग भी सिर्फ इन्हीं किसानों को राहत देगी। बाकी 94 फीसदी किसानों के लिए, जो दोहन करने वाले बाजार के भरोसे हैं, एक राष्ट्रीय किसान आय आयोग बनाने की जरूरत है, जिसमें किसानों के लिए 18,000 रुपये प्रति परिवार की न्यूनतम मासिक आय भी तय होनी चाहिए। साफ है कि ऐसा कोई कदम ही हमारे अन्नदाताओं को कर्ज के मकड़जाल से बाहर निकल पाएगा।